International Journal of Sanskrit Research 2023; 9(5): 108-112

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2023; 9(5): 108-112
© 2023 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 08-07-2023
Accepted: 10-08-2023

डॉ. विवेक कुमार शुक्ल
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
देशबन्धु महाविद्यालय, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
डॉ. विवेक कुमार शुक्ल
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
देशबन्धु महाविद्यालय, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

कला एवं कला का इतिहास : संस्कृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. विवेक कुमार शुक्ल

सारांश
भारत का ज्ञान-विज्ञान अत्यंत प्राचीन है । समस्त प्रकार के कला-कौशलों का प्रारम्भ भी भारतीय ज्ञान परम्परा में ही देखा जाता है । जब हम उपवेदों को देखते हैं तो वेद सदृश उपवेद में स्थापत्यवेद, शिल्पवेद तथा गान्धर्ववेद अन्यतम दिखाई पड़ते है । इन्हीं के द्वारा भारतीय समाज में कला का विस्तार हुआ है । कला तथा संगीत आदि से रहित मनुष्य को शाक्षात् पशु के समान माना गया है अतः भारतीय संस्कृति में कला का आदिकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है । यह विषय समाज जीवन का आधार रहा है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से यह विषय जुड़ा है इसके विना मनुष्य पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है । इस शोध पत्र में शिल्पकला, नृत्यकला, नाट्यकला, युद्धकला, वास्तुकला, चित्रकला आदि का वर्णन तथा इसका प्रारम्भ कैसे हुआ यह बताया गया है । विषय विस्तार की दृष्टि से इसे शूक्ष्म किया है । समाज जीवन की दृष्टि से यह बहुत ही उपादेय है इस पर अन्य शोधों की असीम सम्भावना है । आज के युग में इन विषयों के माध्यम से व्यक्ति को जीविका/रोजगार भी प्राप्त हो सकता है ।

कूट शब्दः शिल्पवेद, स्थापत्यवेद,गान्धर्ववेद, शिल्पकला, नृत्यकला, नाट्यकला, युद्धकला, वास्तुकला, चित्रकला, पाककला,मूर्त्तिकला, प्रसादकला,चित्रकला, काष्ठकला, सूत, रथकार तक्षक, कौलाल, कर्मार, मणिकार, वप, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, सेनानी, रथी, निषाद, पुञ्जिष्ठ, विरूथी, बिल्मी,आशुरथ, आशुषेण, बिल्मी, अवभेदक, व्रज्याय, आदि

प्रस्तावना
भारत देश प्राचीन समय से कला एवं कौशल से परिपूर्ण रहा है । भारतीय मेधा परम्परा में कला का दिग्दर्शन पदे – पदे दिखाई पड़ता है । भारतीय ज्ञान परम्परा के आदिम ग्रन्थों में श्रुतियां हैं । इन श्रुतियों के विषय में अवधारणा है कि इसमें केवल विधि - विधान का ही वर्णन है । वस्तुतः वेदों का मुख्य उद्देश्य मानव के समस्त कल्याण में है । अतः वेदों में समाज जीवन से सम्बन्धित सभी ज्ञान दृष्टिगोचर होते हैं । इस आधार पर कला का उत्स भी वेद को ही माना गया है । आचार्य राजशेखर ने ९ वीं शताब्दी ई.पू में अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि चारों वेदों के उपवेद हैं जिन्हें क्रमशः गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद तथा स्थापत्यवेद के रूप में उल्लिखित किया गया है[1] । इस आधार पर कला का इतिहास वैदिककालीन ही माना जाता है । समस्त प्रकार का कला एवं विज्ञान का ज्ञान भारतीय ज्ञान परम्परा में समाहित है । इस शोध पत्र में कला के सभी प्रकारों का विवेचन किया गया है जिसे यथा सन्दर्भ देखा जा सकता है ।

[1] काव्यमीमांसा,

विषय

जिस प्रकार से दर्शन के आचार्यों की एवं स्मृति, व्याकरण , छन्द, नाट्य, काव्य, गणित, नृत्य, आदि सभी शास्त्रों के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं । उसी प्रकार वास्तु, कला, शिल्पकला, चित्रकला, पाककला, नृत्यकला, नाट्यकला, पाककला, मूर्त्तिकला, प्रसादकला, चित्रकला, काष्ठकला आदि के आचार्य भी प्राचीन समय से ही रहे हैं । वास्तु कला की ऐतिहासिक परम्परा इस प्रकार देखी जा सकती है –

गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मादप्राप्तोब्रहद्रथः ।
ब्रहद्रथाद् विश्वकर्मा प्राप्तवानवास्तु शास्त्रकम् ॥
स विश्वकर्मा जगतो हितायाकथय पुनः ।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तोतोऽब्रवीत ॥[2]

इस प्रकार से सभी कलाओं का अपना इतिहास एवं परम्परा रही है । तथापि इनके सुस्पष्ट उदाहरण सर्वप्रथम वेदों में ही दिखाई पड़ते है । अतः कला का आधार वेदों को स्वीकार किया जाता है । परन्तु १३वीं शताब्दी के आचार्य जयन्त भट्ट सभी शास्त्रों एवं कलाओं को अनादि काल से ही प्रवृत्त मानते हैं । " आदि सर्गात् प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः, संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तांस्तत्र कर्तृनाचक्षते "[3] अतः सभी कलाओं का अपना स्वतन्त्र इतिहास एवं सत्ता है, परन्तु औपचारिक रूप से इनके बीज सर्वप्रथम वेदों में ही प्राप्त होते हैं । वैदिक कालीन समय से ही कलाओं का उपयोग किया जाता रहा है । वैदिक कलाओं में शिल्पकला तथा वास्तुकला सम्बन्धी पुष्कल प्रमाण प्राप्त होते हैं । यजुर्वेद के सम्पूर्ण १३ वें अध्याय में शिल्प, तथा शिल्पकारों के नाम दिये गये है[4] । जिनमें सूत, रथकार तक्षक, कौलाल, कर्मार, मणिकार, वप, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार आदि के विषय में बताया गया है । यजुर्वेद में ही सेनानी, रथी, निषाद, पुञ्जिष्ठ, विरूथी, बिल्मी,आशुरथ, आशुषेण, आदि अनेका कलाओं तथा कलाकारों के नाम का उल्लेख किया गया है[5]। ऋग्वेद में विभिन्न कलाओं का वर्णन किया गया है । कुछ कलाओं को यहां उल्लिखित किया जा रहा है । ऋग्वेद में रथनिर्माण की कला बहुत ही प्रमाणिक ढंग से बताया गया है – " प्र वो वायुं रथयुज परंधिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय" [6]। तत्कालीन समय में युद्ध कला बहुत ही समुन्नत थी जिसमें रथ आदि की अवश्यकता प्रचुर मात्रा में हुआ करती थी । कलाकार विभिन्न प्रकार के रथों का निर्माण करना जानते थे । इसी सन्दर्भ में कुछ अन्य रथों का उल्लेख भी किया जा रहा है –

स्वस्तिवाहं रथम् ।[7]
एवं सुखं रथं युयुजे ।[8]

ऋग्वेद में नौकाएं चलाए जाने का वर्णन भी प्राप्त होता है । कलाकारों द्वारा निर्मित नौका तथा विभिन्न प्रकार के विमानों का वर्णन भी प्राप्त होता है –

नावेव पारय ।[9]
समुद्र अश्विना ईयते [10]।

वैदिककालीन युद्ध कला – इस समय युद्धकला बहुत ही समुन्नत थी । रामायण-महाभारत तक यह कला बहुत समृद्ध हो गई थी । यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में युद्धकला का विशद वर्णन किया गया है । इसमें युद्ध के प्रत्येक विभाग तथा शिल्पकारों का वर्णन है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में बताया गया है कि जब तक सेना का व्यूह ठीक से नहीं बन जाता तब तक शत्रुनाश सम्भव नहीं है –

"इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणां यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां । जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् [11]॥

इसी सन्दर्भ में कुछ विशेष शिल्पकारों का नामोल्लेख भी किया गया है – बिल्मी (underground strategist) अवभेदक (piercers) व्रज्याय (stable incharge) इस प्रकार के कलागत सहस्त्रों उदाहरण प्राप्त होते हैं । युद्ध उपकरण में बाण का उल्लेख किया गया है " विज्यन्धनु कपर्दिनो विशल्यो वाण वा उत "[12] विशल्यो वाण अर्थात तेज गति से चलने वाला । इस प्रकार के अनेक शिल्पों तथा स्थापत्यों का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है । इन सभी कलाओं का कर्ता ब्रह्मा को माना गया है –

चतुः प्रकारं स्थापत्यमष्टधा च चिकित्सितम् ।
धनुर्वेदश्च सप्तङ्गो ज्योतिषं कमलालमात् ॥

वास्तु कला - इस कला का इतिहास वैदिककालीन सूत्र ग्रन्थों से रहा है –

शास्त्रबुध्या विभागज्ञः परशास्त्रकुतूहलः । शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्च आददीतमतीः सदा [13]॥ जिसमें शुल्ब सूत्र प्रमुख है । शुल्ब सूत्रों में भूमि-चयन, भू संस्कार, वेदी रचना, यज्ञ सम्बन्धी भूमि का अनुमान आदि प्रमुख कलाओं के रूपों का निरूपण किया गया है । वास्तु कला का सम्बन्ध रहन – सहन एवं धार्मिक संस्कारों से रहा है । इन कलाओं का आश्रय धर्म रहा है । तथापि इनके जन्मदाता के रूप में विश्वकर्मा एवं मय को देखा जाता है । इस परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं । जिनमें मयमत, मानसार, शिल्परत्न, शिल्पसंग्रह, चित्रलक्षण, सनत्कुमार, वास्तुशास्त्र, वास्तु रत्नावली, वास्तु प्रदीप, बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, गरुणपुराण, अग्निपुराण, आदि में वास्तु कला का गभीरतया विवेचन किया गया है ।

[2] वास्तुकल्पलता पृ, ५ ।
[3] न्यायमञ्जरी प्रथम आह्निक पृ, १० ।
[4] शुक्ल यजुर्वेद अध्याय १३ वां ।
[5] शुक्लयजुर्वेद १६ वां अध्याय ।
[6] ऋग्वेद १०/६४/६ ।
[7] ऋग्वेद १०/१०६
[8] ऋग्वेद १०/७५/९
[9] ऋग्वेद १/६/६
[10] ऋग्वेद १/३०/१८
[11] ऋग्वेद १०/१०३/८
[12] यजुर्वेद १६/१०
[13] कात्यायनशुल्बसूत्र १.२ ।

नाट्यकला

आग्रिम परम्परा में इन सभी कलाओं में नाट्यकला का स्थान समाज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गया । वह नाटक के रूप में चलचित्र के रूप में हो या रूपक की किसी भी विधा में हो । इस कला का प्रथम मौलिक ग्रन्थ भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र है । जिसमें विस्तार पूर्वक नाट्यकला एवं इसके अंगो तथा उपांगो का विवरण प्राप्त होता है । इसकी समस्त सामग्री श्रुतियों से संकलित की गई है । ऐसा भरतमुनि स्वयं लिखते हैं- "जग्राह्य पाठं ऋग्वेदात सामेभ्यो गीतमेव च । यजुर्वेदादभिनयन रसनादथर्वणादऽपि [14] ॥ इस प्रकार यह स्वयं सिद्ध है कि ऐतिहासिकता के आधार पर वेद सभी ज्ञानों एवं कलाओं का मूल है । कला का आधारभूत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र जिसे दो दृष्टियों से वर्गीकृत किया जा सकता है।

सर्वप्रथम यह सभी के लिये था । इसमें वर्ण, धर्म, जाति, कुल, सम्प्रदाय की भावना का त्याग करके सम्पूर्ण भारतीय समाज जीवन को तथा लोक स्वभाव को नाट्यकला का उपजीव्य माना गया है । दूसरा इसमें लोकधर्म तथा नाट्यधर्म में सामञ्जस्य स्थापित करते हुये कला के उत्कृष्ट स्वरूप को बताया गया है । इसी कारण से नाट्यशास्त्र और उसके द्वारा प्रवर्तित नाट्यकला का सम्पूर्ण विश्व में समादर हुआ । वस्तुतः नाट्यशास्त्र कला परम्परा का ग्रन्थमात्र नहीं है अपितु यह विश्वकोश है । इस सन्दर्भ में भरतमुनि ने एक उद्धरण दिया है । जिसमें यह बताया गया है कि इसमें सभी विद्याओं एव कलाओं का वर्णन किया गया है –

न तद् ज्ञानं न तत् शिल्पं न सा न सा कला ।
नाऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते [15]॥

न केवल भारतीय ज्ञान परम्परा में अपितु वैश्विक इतिहास में भी इस कोटी का कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है । इसलिये आचार्य भरत कहते हैं कि नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत अगणित कलाएं ज्ञान, विज्ञान,सब समाहित हो सकता है –" न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्मन्तः कदाचन" । क्योंकि नाट्यशास्त्र ही ऐसा कलाओं के अन्तःसम्बन्ध पर प्रकाश डालता है । प्रायः सभी कलाऐं एक दूसरे पर निर्भर करती है ।

नाट्य, संगीत,नृत्त,नृत्य, चित्र-प्रतिमा इन कलाओं में एक दूसरे के बिना हमारी कलाओं की परिकल्पना ही अपूर्ण है । यह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार से वर्णों के अभाव में चित्र विन्यास – यथा वर्णादृते चित्रं शोभते न निवेशनम्।

एवमेव विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति [16]॥

इस प्रकार से कला की अवधारणा को एवं इसके महत्व को समझा जा सकता है, और यदि इसे ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो इसकी रचना ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य हो चुकी थी । क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख कालिदास के विक्रमोर्वशीयम में प्राप्त होता है –

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवती स्पष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्तामरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः [17]॥

वस्तुतः भरतों की परम्परा भी बहुत लम्बी है किन्तु प्रामाणिक रूप से नाट्यशास्त्र कर्त्ता भरतमुनि ही हैं ।वर्त्तमान नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं । यह शैव दर्शन के आधार पर भी बहुत महत्वपूर्ण है ।

इस प्रकार इन सभी कलाओं के अपने – अपने प्रतिष्ठापक आचार्य , ऋषिमुनि अथवा देवता प्रतिष्ठाक आचार्य के रूप में रहे हैं यह शाक्षात् ज्ञातव्य है । अतः वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, पाककला , नृत्यकला, नाट्यकला , हस्तिकला, आदि कलाओं के अपनी परम्परा रही है । जो आज के समय में भी सनातन रूप से प्रवाहित है ।

वस्तुतः भारतीय ज्ञान परम्परा में कलाओं की संख्या चौंसठ थी , जिनमें शिल्पकला ने प्रायः सभी को आत्मसात् कर लिया है । शिल्पकला में भवनकला, मूर्तिकला, प्रसादकला, चित्रकला, तथा काष्ठकला आदि कलाऐं समाहित हैं । इन कलाओं में समरांगण कला भी महत्वपूर्ण है । प्राचीन समय में समाज के सभी नागरिक किसी न किसी कला में अवश्य दक्ष होते थे । आचार्य वात्स्यायन के समय में ६४ कलाओं का सेवन सभी करते थे । तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो सभी के जीवन में कला का महत्व अवश्य है । इसी कारण से तत्कालीन समय में सभी कला प्रेमी हुआ करते थे । वात्स्यायन कालीन समय में सभी के घरों में चित्रकला दर्शन अवश्य होता था । इस प्रकार की उदात्त कला परम्परा भारत में रही है । किसी भी देश के लिये संस्कृत , संस्कृति एवं कला बहुत आवश्यक है । इस सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रचलित है –

अन्धकार है वहां जहां आदित्य नहीं है ।
मुर्दा है वह देश जहां साहित्य नहीं है ॥

भारतीय कला परम्परा केवल कला या इतिहास मात्र नहीं है अपितु यह धर्म और अध्यात्म का व्याख्यान भी है । इसके लिये कला को प्रतिकों, चिन्हों, अभिप्रायों आदि की सहायता लेनी पड़ती है । विना इन स्तम्भों के कला अपूर्ण है । सभी प्रकार की कलाओं के लिये आधार को लेना ही पड़ता है । प्राचीन समय से जबसे यह सभ्यता प्रारम्भ हुयी है, तब से ही कला का निरन्तर विकास हो रहा है । भारती कला का निर्दशन प्रागैतिहासिक काल से देखा जा सकता है । जिसमें हांथी के दांत, घोड़े के चित्र आदि प्राप्त होते रहे हैं । इन वस्तुओं के प्राप्त होने वाले स्थानों में मोहनजोदड़ो, अजन्ता की गुफा, आदि स्थानों को विश्व के गौरव एवं विभूति के रूप में माना गया है । इसके अतिरिक्त यदि पुराण वाङ्गमय में देखा जाय तो वहां पर विष्णु धर्मोत्तरपुराण में कला के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं –

पावन्ति विष्णुचित्राणि सुरूपानिह लेखयेत् ।
तावद्युगसहस्त्राणी विष्णुलोके महीयते ॥

[14] नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय ।
[15] नाट्यशास्त्र १.११६ ।
[16] नाट्यशास्त्र ३२/४२ ।
[17] विक्रमोर्वशीयम् २/१८ ।

इसी क्रम में पुराणों के पञ्चलक्षणों के सन्दर्भ में विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी जो पञ्चलक्षण बताये गये हैं उनमें ''वंशानुचरित'' को नाट्यकला का मूल बताया गया है [18]। इन पुराणों में वर्णित जो सामग्री है व सब गीत स्वरूप है तथा वृत्त का लक्षण नाटक एवं आख्यान स्वरूप ही है – "वृत्तस्य लक्षणं चैव नाटकाख्यान लक्षणम्" [19] । वृत्त के लक्षण के बाद विस्तार पूर्वक नाट्यकला को बताया गया है, इस सन्दर्भ में मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं कि इतिहास के अनुसार पुराणों को समीक्षित किया गया है । इसमें भी देवताओं के चरित का वर्णन 'नाटक' की संज्ञा से विभूषित किया गया है [20]। इस प्रसङ्ग में नाटक के प्रमुख लक्षणों को भी बताया गया है जिसमें नाटका का कोई एक नायक तथा एक प्रतिनायक रहता है । नाटक में सभी वृत्तियों एवं रसों का भी रहता है । नाटक में कम से कम पांच अंक होने चाहिये । नाटक के मध्य में मञ्च के ऊपर युद्ध, मरण, भोजन, शयन आदि का प्रदर्शन न करके संकेत से सूचित किया जाना चाहिये [21]।

इसी आधार पर संस्कृत साहित्य आचार्यों ने नाटक का लक्षण अपने – अपने ग्रन्थों में किया है । जिसमें आचार्य विश्वनाथ एवं दशरूपककार धनञ्जय प्रमुख है । वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र में रूपकों की संख्या प्रायः सभी आचार्यों ने निर्विवाद रूप से दश स्वीकार की है , परन्तु पुराणकार ने इसकी संख्या बारह बतायी है [22] । इस प्रकार से यह एक महत्वपूर्ण वर्गीकरण का कार्य इन आचार्यों से बहुत पूर्व ही कर दिया था । इसमें यह भी बताया गया है कि संसार का कल्याण करने के लिये सभी कलाओं को धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष से युक्त होना चाहिये -

एते कला कौशलशीलयुक्ताः कार्यास्तथा लोकविधानयुक्ताः ।
धर्मार्थकामाद्युपदेशगाश्च हिताय लोकस्य नरेन्द्र चन्द्र [23] ॥

इस पुराण में चित्रकला का वर्णन भी शूक्ष्मता के साथ किया गया है । इसमें चित्रकला के चार प्रकार बताये गये हैं । जो कि सत्य, वैणिक, नागर, तथा मिश्र हैं । सत्य चित्र वह होता जिसका पूर्ण आधार लोक के अनुरूप होता है । वैणिक चित्र वह होता है जो चतुरस्र सम्पूर्ण होता है न हि दीर्घ न लघु । नागर चित्र गोलाकार नद्यन तथा उल्बण होता है और यह माला आदि से अलंकृत होता है । मिश्र चित्र में सभी के लक्षण प्राप्त होते हैं [24]। इसी प्रकार से अग्निपुराण में भी कलाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है । इस प्रकार का इतिहास एवं कला परम्परा संस्कृत साहित्य में प्राप्त होती है । भारत के ज्ञान का प्रचार – प्रसार सदैव विश्व भर में होता रहा है इसी के परिणामस्वरूप भारत विश्वगुरु कहलाता था । अब वह समय पुनः लौट रहा है जब अपने इन कला-कौशलों के पुनः प्रकाशन से अपनी अपनी पुनर्प्रतिष्ठा करेगा । इस प्रकार के अनेकों शोध पत्रों तथा इस दिशा में शोध करने की अत्यन्त आवश्यकता है जिससे प्राचीन भारतीय वैभव का ज्ञान समाज को प्राप्त हो ।

सन्दर्भ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी : सं.१; १९९६.
2. अमरसिंहः, अमरकोषः, सं०-पं० शिवदत्तदाधिमथः पं० वासुदेवपणशीकरश्च, चौखम्बा-संस्कृत-प्रतिष्ठानम्, वाराणसी : २०१३.
3. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृतवाङ्मय का वृहद् इतिहास (तृतीयखण्ड-आर्षकाव्य), सं. ओमप्रकाश
4. काले , मनोहर , भारतीय नाट्य सौंदर्य , हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली ,१९९३ ।
5. ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता, नागप्रकाशक, नवदेहली : सं.३; २००३.
6. नगेन्द्र , हिन्दी नाट्य दर्पण , हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली १९९०
7. पाणिनि, उणादिकोषः, व्या०- पं० ईश्वरचन्द्र, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली : २००८ भरतमुनि , नाट्यशास्त्र, व्या. एम.एम घोष, न्यू भारती बुक कार्पोरेशन , दिल्ली : २००६ ।
8. मिश्र, भारतेन्दु , भरतकालीन कलाएं : प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली , २००४ ।
9. मुकर्जी, राधाकमल, भारतीय कला का विकास, हिन्दी समिति प्रयाग १९६४ ।
10. यास्कः, निरुक्त , कश्यपप्रजापतिकृतनिघण्टुभाष्य, व्या०- पण्डितश्रीमुकुन्दझाशर्मा, चौखम्बा-संस्कृतप्रतिष्ठान, नवदेहली : २००२
11. राजा राधाकान्तदेव, शब्दकल्पद्रुमः, (पञ्चभागाः), चौखम्बा-संस्कृत-ग्रन्थमाला, वाराणसी : १९६७.
12. राजशेखर, काव्यमीमांसा, हिन्दी व्याख्या डॉ. गंगासागर राय चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी संस्करण २०१० ।

[18] सर्गश्च , प्रतिसर्गश्च , वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ १७/४ विष्णोधर्मोत्तरपुराण्

[19] विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/५

[20] इतिहासानुसारेण पुराणानां समीक्षितम् । चरितं त्रिदशानां वा नाटकं तत्र कीर्तितम् ॥ विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/७

[21] एक नायक संयुक्तं नायक प्रतिनायकैः । संयुक्तमथवा कार्यः काव्ये वै तत्र नायकः ॥ विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/८
पञ्चवराङ्कं तत्प्रोक्तं तथा दशपरं शुभम् । एकदैवतिकं वृत्तमङ्कैः राजन्प्रदर्शयेत ॥ विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/९
तदन्ते सर्वपात्राणां निष्क्रमश्च विधीयते । युक्त्युपन्याससंयुक्तं तथा निष्क्रमणं मतम् ॥ विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/१०

[22] एतासामुचिताकार लीलाभिर्बन्धनं धनम् । नाटकादिषु रूपेषु कर्त्तव्यं द्वादशेस्वपि । विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/६०

[23] विष्णोधर्मोत्तरपुराण् १७/ ६३

[24] सत्यं च वैणिकं चैव नागरं मिश्रमेव च । चित्र चतुर्विधं प्रोक्तं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
यत्किञ्चितल्लोकसादृश्यं चित्रं तत्सत्य मुच्यते । दीर्घाङ्गे सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम् ॥
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम् । प्रमाणं स्थानलम्भाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते ।।
दृढोप्चित्सर्वाङ्गं वर्तुलं नद्यनोल्वणम् । चित्रं तं नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम् ॥
चित्रमिश्रं समाख्यातं समासान्मनुजोत्तम् । तिस्रश्च वर्तनाः प्रोक्ताः पत्राहैविकबिन्दुजाः ॥ विष्णोधर्मोत्तरपुराण् ४१ / १ , २ , ३ , ४ , ५ ।

13. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ , भारतीय स्थापत्य एवं वास्तुशास्त्र, हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ : १९६८ ।
14. वेदव्यास, महाभारत, रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस गोरखपुर, सं.२०४४ ।
15. त्रिवेदी, हरिहर, वास्तु कल्पलता, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी , २००७ ।
16. वाल्मीकि, रामायण, रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस गोरखपुर, सं.२०४४ ।
17. वामनशिवरामआप्टे, संस्कृत-हिन्दी-कोशः, मोतीलाल-प्रकाशनम्-बनारसीदास, दिल्ली : २००७.
18. हलायुधभट्ट, हलायुधकोश, सं०-जयशङ्करजोशी, हिन्दीसमितिः, लखनऊ : १९८७.
19. वेदव्यास; विष्णुपुराण, समीक्षावृत्ति, मधुसूदन पाठक, प्राच्यविद्यामन्दिर वडोदरा , गुजरात : १९९९ ।
20. वेदव्यास; विष्णुधर्मोत्तरपुराण, व्या. आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी : २०१६ ।